क्या शिक्षा शांति में सहायक हो सकती है?

भाग-I

कृष्ण कुमार

अनुवाद : लतिका गुप्ता

परिचय

शीर्षक में उठाए गए सवाल का एक जाली उत्तर दिया जा सकता है कि हां, शिक्षा यह कर सकती है पर करती नहीं है। शिक्षा और शांति दोनों के ही एक से ज्यादा अर्थ होते हैं। एक व्यापक समझ के लिए उसके दोनों अर्थों में अंतर करना जरूरी है। अर्थ का एक दायरा शिक्षा की अवधारणा में निहित है और दूसरा इशारा करता है उस ओर जब हम एक व्यवस्था की बात करते हैं। यह अंतर शांति के संदर्भ में शिक्षा की चर्चा के लिए खास तौर पर जरूरी है क्योंकि व्यवस्थागत अर्थ उस प्रभाव को दिखाता है जो आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियां शिक्षा पर डालती हैं और अवधारणात्मक अर्थ शांति में सहायक बनने हेतु शिक्षा में सुधार की संभावना दिखाता है। युनैस्को द्वारा प्रकाशित यह लेख चार खण्डों में है जो अगले तीन अंकों में प्रकाशित किया जाएगा। यहां प्रस्तुत पहले खण्ड में एक वक्तव्य है और शांति के दार्शनिकों के विचारों पर चर्चा प्रस्तुत की गई है।

खण्ड 1 : सरहद लांघना

दो दशक पूर्व मैं एक अनुभव से गुजरा जिसने मुझे आश्वस्त कर दिया कि शांति शिक्षा कितनी जरूरी है। 1998 में मैंने भारत एवं पाकिस्तान में इस्तेमाल हो रही इतिहास की पाठयपुस्तकों का एक अध्ययन शुरू किया था। मेरा अध्ययन उपनिवेश-विरोधी या राष्ट्रवादी संघर्ष पर सीमित था। यह अतीत का वह हिस्सा था जो 1947 में विभाजन के क्षण से पहले तक दोनों आधुनिक राष्ट्रों के बीच साझा था। मेरी रुचि यह जांचने में थी कि 1857 से 90 साल के लंबे वक्त- जिस दौरान अंग्रजों ने पहला बड़ा विद्रोह झेला फिर आजादी और फिर 1947 में विभाजन तक- पर दोनों देशों में इस्तेमाल होने वाली मुख्यधारा की पाठयपुस्तकों में किस प्रकार का वर्णन दिया गया है। पाठ्यपुस्तकों के शुरुआती विश्लेषण के बाद मैंने पाकिस्तान की यात्रा का मन बनाया और दिल्ली-लाहौर बस से जाने का निर्णय लिया। वह बस सेवा हाल ही में शुरू हुई थी और तत्कालीन दोनों सरकारों की साझा आकांक्षाओं का प्रतीक थी जिससे उस समय दुतरफा रिश्ते सुधार की उम्मीद रखी गई थी। इस तरह के प्रतीकात्मक कामों से दोनों देशों के बीच की शत्रुता में कई बार अवरोध पैदा हुआ लेकिन चिरस्थायी शांति न आई। हमारी बस नई दिल्ली से सुबह-सुबह निकली और पूरा दिन लगा कर वाघा पहुंची जहां भारत-पाक सीमा पर दोनों तरफ से आने वालों को आधिकारिक स्वीकृति दी जाती है। पासपोर्ट एवं सामान की पड़ताल में बहुत समय लगा और उसके बाद ही मैं अन्य मुसाफिरों के साथ अगली बस पर चढ़ पाया। जैसे ही बस चली मेरी नज़र पास ही खाली पड़े जमीन के टुकड़े पर गई जिस पर लड़कों का एक समूह क्रिकेट खेल रहा था। यह एक आम और साधारण दृश्य था लेकिन मेरे मन में यह विचार उमड़ा कि उनके लिए अतीत तथा वर्तमान की तामीर बहुत अलग थी। उनके पाकिस्तानी होने

और मेरे भारतीय होने के कारण शिक्षा ने अतीत का अलग ज्ञान रचने में जो भूमिका निभाई थी वह उस क्षण में स्पष्ट हो गई कि यही भूमिका तो दोनों देशों के बीच शत्रुता बनाए रखने में शिक्षा निभाती है। यह अनुभूति उस क्षण में मेरे दिमाग में कौंधी।

सारी दुनिया में राष्ट्रीय सीमाएं दो देशों के बीच ज्ञानात्मक विभाजन की तरह काम करती हैं लेकिन हरेक प्रकरण में वे एतिहासिक ज्ञान में इतनी भिन्नता पैदा नहीं करतीं जितना साफ तौर पर वे भारत एवं पाकिस्तान के संदर्भ में करती हैं। राष्ट्रों के बीच की सीमाएं आधुनिक राज्य की उस भूमिका को चिह्नित करती हैं जिसके तहत यह तय होता है कि सीमा के अंदर के राष्ट्र से संबद्ध होने के लिए नई पीढ़ी क्या सीखेगी। राज्य अपने प्रभुत्व से यह जांचता है कि स्कूल राष्ट्र के प्रति किस तरह की अनुरक्ति पैदा करेंगे और वह कितनी प्रगाढ़ होगी।

शांति शिक्षकों की परंपरा

शैक्षिक मुद्दे के रूप में शांति की तरफ कई आधुनिक दार्शनिक आकर्षित हुए हैं। करीब-करीब सभी ने शांति के संदर्भ में शिक्षा की भूमिका की जांच इस हवाले से की है कि राष्ट्रवाद शिक्षा व्यवस्था पर कैसे दवाब डालता है। टैगोर, गांधी, कृष्णमूर्ति एवं बर्टन्ड रसल चार मुख्य आधुनिक दार्शनिक हैं जिन्होंने आधुनिक समय में शिक्षा की इस बाध्यता को जांचा। चारों ने ही अपना ध्यान उन अंतर्विरोधों पर केंद्रित किया जो बचपन में अधिगम या सीखने को राष्ट्रवादी तकाजों के तहत आक्रान्त रखते हैं और राज्य द्वारा जिनकी मांग स्कूल और शिक्षकों से की जाती है। आज के समय में इन दार्शनिकों की कही बातों का पालन करना कई देशों में संभव नहीं है जहां राष्ट्रीय जोश एवं गर्व पुनरुत्थान के दौर से गुजर रहे हैं। एक संक्षिप्त दौर में टैक्नोलॉजी समर्थित बाजार- अनुकूल वैश्वीकरण के विमर्श ने राष्ट्रीय सीमाओं एवं बाधाओं को उदार बनाने का दावा किया और लोप्रियता हासिल की- उसके बाद राजनीतिक रूप से आवेशित राष्ट्रवाद दुनिया के कई हिस्सों में दोबारा उठा है। टैगोर ने युद्ध के दौर में इसी तरह के राष्ट्रवाद के प्रति हमें सचेत किया था कि यह इंसानी विवेक एवं जीवन के लिये एक खतरा है (टैगोर, 2004)। हालांकि टैगोर औपनिवेशीय आधिपत्य से भारत की आजादी के पक्ष में थे लेकिन राजनीतिक सरोकारों से बंधे राष्ट्रीय समुदाय के विचार से वे बेचैन रहते थे। इंसानी एकता में उनका सरोकार उन आदर्शों से प्रेरित था जो राष्ट्रीय स्तर पर परिभाषित रुचियों एवं असुरक्षाओं से परे और आगे थे। संकुचित राष्ट्रीय लालसाओं की आक्रामक अभिव्यक्ति के दौर में मानववादी अभिलाषा को खोजने एवं परिभाषित करने के प्रयास में गांधी एवं टैगोर एक संभाषणीय रिश्ते में जुड़े। अंग्रजों के शासन के खिलाफ भारत के संघर्ष के अधिनायक की भूमिका अदा करते हुए गांधी के राजनीतिक विचारों को संपूर्ण अभिव्यक्ति मिली (शियान, 1949)। टैगोर एवं गांधी के समकालीन श्री अरविंद (2007) ने इंसानी एकता एवं समाज के रूप में भारत की अखंडता के विचार की अभिव्यक्ति प्रकृति के हवाले से दी जिसमें अनन्त विविधता होती है।

बर्टन्ड रसल (1916) ने भी राष्ट्रवाद की उस भूमिका में अंतर किया जो वह राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन के बरक्स सांस्कृतिक जीवन में अदा कर सकता है। जीवन के बाद के समय में उनका सोचना था कि राष्ट्रवाद घातक भूमिका निभा सकता है। वैश्विक आणविक युद्ध के खतरों के खिलाफ रसल की सक्रियता ने उन्हें बच्चों की शिक्षा की भूमिका की आलोचना की तरफ मोड़ा, खासकर इतिहास का शिक्षण, जिसके कारण विरोधात्मक अस्मिताएं सुदृढ़ होती हैं। उनका सुझाव था कि स्कूलों में इस्तेमाल के लिए राष्ट्रीय इतिहास विदेशियों से लिखवाया जाना चाहिए। अगर कोई देश आज इस पर गंभीरता से विचार करे तो उसे उपहास झेलना होगा। भावनात्मक रूप से आवेशित अहम के निर्माण में शिक्षा की भूमिका के मद्देनजर रसल के विचारों की गूंज कृष्णमूर्ति के विचारों में सुनाई देती है। 'शिक्षा एवं जीवन का महत्व' शीर्षक से छपे अपने संवादों में कृष्णमूर्ति ने कहा कि आधुनिक शिक्षा में विश्व की शांति के लिए खतरा निहित है कृष्णमूर्ति, (1953)। यहां यह याद दिलाना जरूरी है कि कृष्णमूर्ति शिक्षा के उस स्वरूप की बात कर रहे थे जो प्रचलित है और आम तौर पर जिस से तरह दी जाती है। पांचों ही दार्शनिकों ने शिक्षा एवं शिक्षणशास्त्र को सुधारने के मौलिक सुझाव दिए।

कृष्णमूर्ति के विचारों में केवल राष्ट्रवाद ही नहीं शिक्षा द्वारा प्रोत्साहित कोई भी सामूहिक अस्मिता उसके शांति पनपाने की संभावना को क्षीण कर देती है। शिक्षा की अपनी आलोचना में कृष्णमूर्ति ने यह कहते हुए भाषा और धर्म को सामूहिक अस्मिता के चिह्न माना और कहा कि जब इन दोनों की तालीम के जरिए शिक्षा आम सामूहिक स्व का निर्माण करने लगती है तो वह उन लोगों की तरफ नकारात्मक भावनाएं उकसाने लगती है जिनका धर्म अलग होता है या जो अलग प्रकार की भाषा बोलते हैं। इस सामूहिक अस्मिता को सक्रिय बढ़ावा देने से 'अन्यता' या 'पृथकत्व' का प्रभाव पैदा होता है। शिक्षा इस प्रभाव को दो कारणों से तीक्ष्ण करती है। एक है कि शिक्षा बचपन में होती है जब सामूहिक स्व-छवि के विमर्श के आत्मसात होने की संभावना अधिक होती है। दूसरा, शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक शामिल होता है जिसकी वजह से मिलने वाली जानकारी में एक बल आ जाता है जो कि यूं ही सामान्य तौर पर बड़े होने के दौरान होना संभव नहीं होता।

शिक्षा, शांति एवं युद्ध

यह आम राय कि शिक्षा शांति में योगदान देती है दरअसल घर एवं स्कूल के संबंध और पढ़ाई की प्रक्रिया की अधूरी समझ पर आधारित है। शिक्षा एक शांतिपूर्ण संसार की नींव रख सकती है और रखती है इस दावे में बल उसकी आकर्षित करने की क्षमता से आता है। कौन यह नहीं मानना चाहेगा कि शिक्षा शांति लाने की शक्ति है? सही में, अगर इस मुद्दे पर एक सर्वेक्षण किया जाए कि लोग क्या सोचते हैं तो यह मत पुर्जोर व्यक्त होगा शिक्षा ने तो दुनिया को पहले से ही बहुत शांतिपूर्ण बना दिया है। इस फैसले के पक्ष में सबूत यह कह कर दिया जाता है कि पिछली शताब्दी के दो विश्व युद्धों को हुए इतने दशक बीत चुके हैं। कई लोग पिछले सात दशकों में कोई बड़ा युद्ध न होने का कारण शिक्षा के विस्तार को मानते हैं।

इस वाद में दो स्पष्ट समस्याएं हैं। एक समस्या उठती है 'युद्ध' या 'बडा युद्ध' शब्द के चुनिंदा इस्तेमाल से। दूसरी समस्या उठती है 'बडे युद्ध' के तथाकथित न होने को शिक्षा के विस्तार पर प्रत्यारोपित करने से। आइए इन दोनों समस्याओं का विश्लेषण करें। यह कहना कि पिछले सात दशक उससे पहले के दो दशकों के मुकाबले शांतिपूर्ण रहे तभी तक संभव है जब तक हमारा ध्यान सिर्फ तथाकथित 'विकसित' दुनिया तक सीमित हो। इस शब्द में सिर्फ पश्चिमी दुनिया के देश आते हैं और कुछ पूर्वी एशिया के खासकर जापान। अगर हम शांति के अर्थ को युद्ध न होने तक सीमित कर दें तो भी बाकी की सारी दुनिया में दूसरे विश्व युद्ध के बाद के समय को बमुश्किल ही शांतिपूर्ण कहा जा सकता है। अमेरिका ने वियतनाम में जो दारुण हिंसा बरपाई या रवांडा, कंबोडिया और चिले में गृह युद्ध हुए उनमें मरने वाले साधारण लोगों की संख्या दूसरे विश्व युद्ध में मरने वालों से तुलनीय थी और इसमें वे शामिल नहीं हैं जो जापान पर अमेरिका के परमाणु हमले में मरे। हाल के समय में अफगानिस्तान एवं इराक का हाल वियतनाम जैसा हुआ है और श्रीलंका में भीषण गृह-युद्ध चला है। इन सभी देशों के नाम बताते हैं कि दूसरे विश्व युद्ध के बाद के दशकों में हिंसक द्वंद मुख्यतः गरीब या तथाकथित विकासशील देशों में हुए हैं। हिंसा के अपने रिकार्ड में हमें चलती जा रही उन घटनाओं को शामिल कर लेना चाहिए जिनको हम आतंकी या आतंकवाद कहते हैं। बीसवीं शताब्दी के दो विश्व युद्धों और युद्ध पश्चात क्षेत्रीय विवादों में हुई मौतों की विशुद्ध तुलना बड़ी मुश्किल है और व्यर्थ भी। उससे कुछ हासिल नहीं होगा सिवाय इसके कि बाद के समय को हम शांतिपूर्ण या अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण भी नहीं कह पाएंगे।

दूसरी समस्या पर फिर से आते हैं। जो लोग युद्ध पश्चात दौर में अपेक्षाकृत शांति में शिक्षा की भूमिका देखते हैं वे निश्चित ही युद्ध एवं हिंसा के उन स्वरूपों को अनदेखा करते हैं जो आधुनिक इतिहास में इंसानियत के सामने पेश आए हैं। अगर शिक्षा सही में शांति का मार्ग दिखाती तो पहले और आज भी सबसे ज्यादा शिक्षित देश इतनी भयानक हिंसा के ठिकाने न होते और न ही अपनी लोकतांत्रिक संस्कृति और शैक्षिक उपलब्धियों के लिए जाना जाने वाला देश अमरीका दूसरे देशों खासकर गरीब देशों में इतनी व्यापक हिंसा बरपाता। अगर शिक्षा का विस्तार शांति से जुड़ा एक कारक है तो दक्षिण एशिया में साक्षरता व आरंभिक शिक्षा में अपने पड़ोसियों से कहीं आगे चल रहा देश श्रीलंका इतने भीषण व लम्बे गृह युद्ध से न जूझता। हम यह तर्क दे सकते हैं कि शिक्षा शांति की संभावना बढ़ाती है अगर

हम उसको एक साधारण मुद्दा बना देते हैं, एक ऐसा खिलौना जो बच्चे को मजा देने का साधन हो। शिक्षा पर कुछ गहन विचार करना है तो हमें अपने प्रश्न को बिना लाग लपेट के अनपेक्षित ढंग से उठाना होगा : क्या शिक्षा नफरत को बढ़ावा देती है और विवाद को लंबे समय तक बनाए रखती है? जब प्रश्न को इस ढंग से उठाते हैं तो हम शिक्षा को एक मामूली खिलौना मानने की निरर्थकता को देख पाते हैं। अगर हम भारत और पाकिस्तान में बच्चों के समाजीकरण में स्कूली पाठयचर्या और पाठ्यपुस्तकों की भूमिका का परीक्षण करते हैं तो इसकी यांत्रिकता बेहतर पकड़ में आती है। दोनों देशों में आधुनिक इतिहास के शिक्षण में इस्तेमाल की जा रही स्कूली पाठ्यपुस्तकों का तुलनात्मक अध्ययन करके मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि शिक्षा विवाद को सतत बनाती है और विद्वेष को पोषित करती है (कुमार, 2001)। इस अध्ययन से यह कहने के लिए बहुत ही ठोस प्रमाण मिले कि दो देशों के बीच पड़ौसवत नफरत बनाए रखने में शिक्षा ने भूमिका निभाई है।

शिक्षा एवं समाजीकरण

इस अंतर्दृष्टि का अवधारणात्मक साधनों एवं ध्यान से परीक्षण करने की जरूरत है अन्यथा हम वे मुख्य अनुग्रह खो बैठेंगे जो शिक्षा और शांति के संबंध का व्यापक सिद्धांत विकसित करने के लिए दो देशों के बीच विवाद की ऐसी केस स्टडी हमारे सामने रखते हैं। एक बात मेरे भारत-पाक अध्ययन (कुमार, 2001; कुमार, 2007) से स्पष्ट रूप में निकल कर आई कि एक विवाद निश्चित रूप से कायम रहता है और हिंसा के लिए उसकी संभावना बनी रहती है अगर उसके बीज जिंदगी की शुरुआत में ही जड़ पकड़ लें यानी प्राथमिक सामाजीकरण का हिस्सा बन जाएं। प्राथमिक समाजीकरण शब्द का संस्कृति के समाजशास्त्र के लिए विशिष्ट अवधारणात्मक महत्व है। शिक्षा के क्षेत्र में इसे बहुत ही सीमित और हल्के ढंग से लिया जाता है क्योंकि शिक्षा को ज्यादातर कर्म एवं नीति का क्षेत्र माना जाता है जबकि समाजशास्त्र को दूसरे समाज विज्ञानों के साथ परीक्षण का। इसलिए, शिक्षा में समाजीकरण का अध्ययन मुख्य रूप से बच्चे द्वारा घर से साथ ले आए जाने वाले प्रभावों को शैक्षणिक प्रयासों द्वारा समायोजित किए जाने के लिए किया जाता है।

जिस गहरे स्तर पर शुरुआती समाजीकरण स्व-अस्मिता, दृष्टिकोणों और मूल्यों को आकार देता है उसको शिक्षा के क्षेत्र में लोग अक्सर हल्के में लेते हैं जैसे कि शिक्षक तथा पाठ्यचर्या निर्माता। अगर हम शुरुआती समाजीकरण को स्व-अस्मिता और 'दूसरों' के प्रति रवैये के विकास का मुख्य कारक मानें तो हमारे पास यह कहने का एक मजबूत आधार होगा कि जब शिक्षा सामाजिक लोकाचार में पहले से मौजूद पूर्वाग्रह को ही बढ़ावा दे रही होती है तब राष्ट्रों के बीच मौजूद नफरत एवं विद्वेश खुद को बनाए रखने की शक्ति हासिल कर लेते हैं। स्कूल एवं पाठ्यचर्या की इस भूमिका को स्पष्ट करने के लिए हमें उन जटिल संबंधों का परीक्षण करना पड़ेगा जो आधुनिक समाज में संस्थागत तौर पर सीखने की किसी भी प्रक्रिया को आधार देते हैं यानि शिक्षा एवं समाजीकरण के बीच संबंध। समाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों, गणित एवं भाषा सहित किसी भी स्कूली विषय में जो सीखना मौजूद होता है उसके लिए ये संबंध महत्वपूर्ण होते हैं। स्कूली शिक्षा एवं घर पर हुए समाजीकरण के बीच का संबंध इतिहास में जो सीखना होता है उसे आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भारत एवं पाकिस्तान के बारे में विशिष्ट परीक्षण शुरू करने से पहले आइए एक संक्षिप्त चर्चा कर लें कि शांति के संदर्भ में स्कूल की भूमिका में इतिहास के बारे में सीखना महत्वपूर्ण कारक क्यों है?

प्राकृतिक दुनिया से भिन्न सामाजिक वातावरण को जानने के लिए बच्चे को सहयोग एवं प्रोत्साहन की जरूरत होती है। भौतिक वस्तुएं और घटनाएं जैसे कि अंधेरे आकाश में चांद का उगना या किसी रेलगाड़ी का गुजरना बच्चे को आकर्षित करती हैं और ध्यान चाहती हैं। इसके विपरीत बच्चे के मां-बाप की शादी से संबंधित जानकारी या बहुत समय पहले की घटनाएं बच्चे की चेतना का हिस्सा तभी बनती हैं जब कोई उस ओर ध्यान दिलाता है या किसी न किसी रूप में उनका वर्णन करता है। अतीत के बारे मे जानने के लिए बच्चे वयस्कों पर निर्भर होते हैं। जब तक बच्चे का नाम स्कूल में लिखा जाता है तब तक वह- वयस्कों से एवं आधुनिक घरों में मौजूद टेलीविजन जैसे संसाधनों से

अतीत के बारे में घर पर बहुत कुछ सीख चुका होता है। इतिहास पढ़ाना शुरू करने से पहले स्कूल को कई साल इंतजार करना होता है जबकि घर तो शैशव काल में ही शुरू हो जाता है और रोजमर्रा के घरेलू जीवन में निरंतर सिखाता रहता है।

घर में बच्चों के द्वारा अतीत के बारे में ज्ञान का समावेशीकरण खास वातावरण में होता है जिसमें चिंतनशील विचार, प्रश्न उठाने एवं वैकल्पिक कथानकों या स्पष्टीकरण की कोई गुंजाइश नहीं होती। वह काफी भावनात्मक अवयवों के साथ संपन्न होता है जो प्राथमिक समाजीकरण की विशिष्टता होती है (बर्जर एवं लकमन, 1966)। जरूरी नहीं है कि कथानक को समेकित कहानी में पिरोया जाए। बल्कि वह बिखरी हुई, आधी अधूरी-सी होती है जिसमें दृश्य, श्रव्य एवं अन्य संवेदी सामग्री बिखरी हुई होती है। नाम भर का ऐतिहासिक ज्ञान, जिसमें काफी कुछ कल्पित सा होता है, उसको धार्मिक विश्वासों और अपने से भिन्न अतीत वालों के प्रति 'दूसरे होने' के रवैये में पिरोया जाता है। इस नाम भर के अव्यवस्थित ऐतिहासिक ज्ञान में समुदाय का भाव पिरो दिया जाता है और इस भाव से बच्चे को अस्मिता प्रदत्त होती है। इससे उनके प्रति पृथकत्व पैदा हो जाता है जो अन्य समुदायों से होते हैं।

प्रायः हम बच्चों के धार्मिक अनुभव को इतिहास में उनके प्रवेश करने व डूबते चले जाने की तरह नहीं देखते हैं। हम ऐसा करने से कतराते हैं क्योंकि हमें इतिहास को एक ऐसे दस्तावेजी ज्ञान के क्षेत्र के रूप में देखने की आदत है जिसमें तथ्य और प्रमाण होते हैं। हम बोधात्मक इतिहास को अनदेखा कर कतराते हैं और उसकी आलोचना करके छोड़ देते हैं (कुमार, 2007) जिसको कई पीढ़ियों के अनुभवों की स्मृति ने पोषण दिया है व जीवित रखा है। धर्म में निहित इतिहास भी ऐसा ही है। वह समय की लंबी अवधि में फैला होता है और जिसमें आस्था-व्यवस्था के बनने से पहले का दौर, बढ़त और विकास का दौर शामिल होता है। इस आस्था-व्यवस्था में विश्वास, सामूहिक अस्मिताएं एवं संलग्नक विचार शामिल होते हैं। मिथकीय चरित्र एवं व्यक्तित्व इस आस्था-व्यवस्था का हिस्सा होते हैं। एक समुदाय को अस्मिता या पहचान देने में सामूहिक स्तर पर दर्ज स्मृति अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। समुदाय के बने रहने एवं बौद्धिक कल्याण के लिए यह इतना महत्वपूर्ण होता है कि इसे जल्द से जल्द नवजात शिशु को प्रदत्त कर दिया जाता है और यह प्रदत्त किया जाना पूरे बाल्यकाल में चलता है जिसकी छाप मानस पर गहरी होती है। छाप ऐसी कि प्रश्न या शंका की कोई गुंजाइश नहीं बचती। बचपन के उत्तरार्द्ध में स्कूल में पढ़ाए जाने वाले इतिहास के ज्ञान के लिए यह अच्छे से जुताई कर तैयार की गई जमीन की तरह काम करता है। यह प्रकिया जिसमें घर पर हुए प्राथमिक सामाजीकरण एवं स्कूल में हुए गौण सामाजीकरण का विलय हो जाता है वह सात दशकों से चली आ रही भारत-पाक दुर्भावना के मामले में खास चरितार्थ होती है। उसका विश्लेषण करके हम उन मुशकिलों और चुनौतियों की समझ बना सकते हैं जो दो देशों के बीच शांति की कोशिश के सामने शिक्षा प्रकट करती है। ◆

लेखक परिचय : जाने-माने शिक्षाविद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के पूर्व निदेशक और दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षण संस्थान से सेवानिवृत्त।

संपर्क : anhsirk.kumar@gmail.com